शब्द–ब्रह्म
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल
E ISSN 2320 – 0871
17 अक्टूबर 2026

गुरुकुल व्यवस्था में शिक्षण प्रक्रिया

पायल गोयल (शोधार्थी)
डॉ.अल्काव बाग्ला (शोध निर्देशक)
आचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
झालावाड़, राजस्थान, भारत

वर्तमान में शिक्षा का जो स्वरूप हमें दिखाई देता है, वह प्राचीन शिक्षा पद्धति से भिन्न है। प्राचीन काल में शिक्षा न केवल गुरूकुलों में दी जाती थी अपितु मठ–मन्दिरों में भी दी जाती थी। तत्कालीन गुरूकुलों का स्थान आज विद्यालय–महाविद्यालयों ने ले लिया है।

गुरुकुल प्रणाली के अन्तर्गत उस प्रकार की सभी शिक्षाओं की व्यवस्था थी, जिसके द्वारा छात्र का सर्वाङ्गीण विकास सुनिश्चित किया जा सके। पुरातन काल में गुरुकुलों में दी जाने वाली शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त समृद्ध था। गुरुकुल के आचार्य अच्छी प्रकार से ज्ञान के महत्व को जानते थे। आचार्य जिन–जिन विषयों का ज्ञान रखते थे वे समस्त विषय अपने शिष्यों को बताते थे।

प्राचीन गुरुकुलों के अन्तर्गत 'परा' एवं 'अपरा' नामक दो प्रकार की विद्याओं की प्रसिद्धि थी। मुण्डीकोपनिषद् के अनुसार :

द्वे विधे वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।1

'परा' विद्या अक्षर व्यापक परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है अर्थात् 'परा' विद्या के माध्यम से मनुष्य चिदानंद स्वरुप ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। परा विद्या को अलौकिक विद्या के रूप में जाना जाता है, क्योंकि यह परलोक की सिद्धि का करण है। उपनिषद् विद्या को परा विद्या के रूप में जाना जाता है। उपनिषद् परब्रह्म विषयक जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते है। वस्तुतः उपनिषदों में वेदो के दार्शनिक पक्ष को उद्घाटित किया गया है। आध्यात्मिक विद्या के रूप में परा विद्या का ही प्रतिपादन किया गया है जो विद्याओं में सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है।2 वास्तविक रूप से परा विद्या को ही विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा ही ऋषिजन अमृतत्व को प्राप्त करते है। परा विद्या का सम्बन्ध आत्म ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान के साथ है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्मतम है। इसको अपने स्वयं के प्रयास से नहीं जाना जा सकता है। इसके लिये किसी योग्य गुरु के उपदेश की आवश्यकता होती है। दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में परा विद्या के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मूल प्रकृति जगत् जननी भगवती पराम्बा महात्रिपुरसुन्दरी ही वस्तुतः सनातनी परा विद्या है। यही ब्रह्म विद्या है। यही सांसारिक बन्धनों से मोक्ष प्रदान करने वाली नित्या अध्यात्म विद्या ही परा विद्या की प्राप्ति हेतु मनुष्य को अपने अहंकार, अविद्या, माया तथा सांसारिक वासनाओं का परित्याग करना पड़ता है।

प्राचीन गुरुकुल शिक्षा का जो परम उद्देश्य मोक्ष थाए उसकी प्राप्ति हेतु आचार्यों के द्वारा अपने शिष्यों को ब्रह्म विद्या अर्थात् परा विद्या का उपदेश दिया जाता था। यही पारलौकिक उपदेश गुरुकुल शिक्षा का प्राणतत्व था। परा विद्या के उपदेश के उदाहरण के रूप में मुण्डकोपनिषद् को लिया जा सकता है। इसमें महर्षि अंगिरा अपने शिष्य शौनक को विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से ब्रह्म विद्या का उपदेश करते हैं। इस उपनिषद् का प्रारम्भ शौनक की इस जिज्ञासा से होता है कि ऐसा कौन–सा तत्त्व है, जिसको जान लेने के पश्चात् और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता है। अर्थात् जिसके ज्ञान से समस्त तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। इसी जिज्ञासा के समाधान हेतु अंगिरा अपने शिष्य शौनक को कहते हैं कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप अव्यक्त तथा अचिन्त्य है। नेत्र, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियों हस्त पादादि कर्मेन्द्रियों, मन तथा प्राणादि से रहित वह ब्रह्म अनादि, अक्षर, व्यापक, नित्य, विभु, सूक्ष्मतम, सर्वज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ एवं कालातीत है।3 इस प्रकार का स्वरूप होने पर भी उसके सत् व असत् दूरातिदूर समीपातिसमीप, हृदयस्थ, गतिमान्, सप्राणोन्मेष आदि सगुण निर्गुण स्वरूप की विवेचन शास्त्रों में प्राप्त होता है।

परा विद्या के उपदेश के अनुसार ब्रह्म को जगत् की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित किया गया है तथा यही ब्रह्म प्रत्येक वस्तु की परिणति का उपादान कारण है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार जड़–चेतन सब कुछ ब्रह्म ही है।4 इसी को आत्मा कहकर भी सम्बोधित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में ही शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं कि यह मेरी आत्मा मेरे अन्तर्हृदय में ब्रह्म है, जब मैं इस नश्वर संसार को छोड़कर जाऊंगा तब मैं उस ब्रह्म रूप आत्मा से एकीकृत हो जाऊँगा।5

तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्तर्गत भृगु जब अपने पिता वरुण से ब्रह्म विषयक जिज्ञासा करते हैं तो वरुण उसके समाधान हेतु उपदेश करते हैं कि जिससे समस्त पदार्थो की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होकर जीवन धारण करते हैं तथा अन्त में जिसके पास पहुँच कर उसमे ही विलीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है।6 यहां क्रमिक रूप से अन्नमय, प्राणायाम, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोशों के उदाहरण के माध्यम से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया गया है तथा अन्त में आनंद को ही ब्रह्मस्वरूप माना गया है। ब्रह्म का स्वरूप सत्यए ज्ञान एवं आनंदात्मक

E ISSN 2320 – 0871
17 अक्टूबर 2026

है। सगुण तथा निर्गुण के भेद से ब्रह्म दो रूपों में विद्यमान है। सगुण ब्रह्म को अपरब्रह्म कहा गया है तथा इसी को जगत् के सर्जक .पालक व संहारक के रूप में माना गया है। सगुण ब्रह्म सोपाधिक है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को परब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। यह निर्गुण ब्रह्म मन एवं वाणी का विषय नहीं है अर्थात् इनसे अगोचर है। निर्गुण ब्रह्म निरूपाधिक है। यह दोनों एक ही ब्रह्म के ये दोनों स्वरूप है। अपनी लीलाविलास के कारण निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप में प्रकाशित होता है।

परा विद्या को अध्यात्म विद्या भी कहा गया है। अतः इसके अन्तर्गत गुरु आत्मा के वास्तविक स्वरूप का भी उपदेश अपने शिष्यों को करते थे। कठोपनिषद् के अनुसार आत्मा अजन्मा, नित्य, अविनाशी, शाश्वत तथा अमर है। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। आत्मा को अणु से भी लघु तथा महत् परिमाण से भी विस्तृत कहा गया है। जो कि समस्त जीवों के हृदय में अवस्थित है , जिसे ईश्वर की कृपा से ही जाना जा सकता है। अपने बुद्धि बल के सामर्थ्य से आत्मा को वास्तविक स्वरूप को जानना सम्भव नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति इन्द्र को उपदेश करते हुए कहते हैं कि :

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।।7

आत्मा पापों से मुक्त है, जरारहित, मृत्यु व शोक से भिन्न बुभुक्षा तथा पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। प्रत्येक प्राणी को इसी की गवेषणा तथा जिज्ञासा करनी चाहिये। माण्डुक्योपनिषद् ने आत्मा को ही ब्रह्म कहकर इसकी चार अवस्था तक प्रतिपादन किया है।8 ये चार अवस्थायें क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तूरीय अवस्था है। इनमें से चतुर्थ तुरीय अवस्था को ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप कहा है।9 जाग्रत व स्वप्न इन आरम्भिक दो अवस्थाओं में द्वैत की प्रतीति होती है, तृतीयावस्था सुषुप्ति के अन्तर्गत वह ब्रह्म के साथ तदाकारारित होकर आनंद की अनुभूति करता है। चतुर्थ तुरीयावस्था शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इस तुरीयावस्था में बाह्य एवं आभ्यन्तर किसी भी तरह के पदार्थ की अनुभूति नहीं होती है। छान्दोग्योपनिषद् में सभी इन्द्रियों को प्राण तथा प्राण को आत्मा के रूप में बताया गया है। इस प्रकार गुरुकुल में आचार्य शिष्यों को परा विद्या के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या तथा अध्यात्म का उपदेश करते थे।

विद्या के द्वितीय भेद के रूप में अपरा विद्या को रखा गया है। यह अपरा विद्या लौकिक विद्या के रूप में जानी जाती है। इस विद्या का सम्बन्ध सांसारिक ज्ञान के साथ है। गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत आचार्य अपने शिष्यों को ब्रह्म ज्ञान के उपदेश के साथ ही अपरा विद्या अर्थात् सांसारिक ज्ञान का भी बोध कराते थे। इस अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्, यजु, साम, अथर्व ये चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष, छन्द यह छः वेदांग पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र इन चतुर्दश विद्याओं का परिगणन किया गया है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद इन चार उपवेदों का सम्बन्ध भी अपरा विद्या के साथ ही है। इन अठारह विद्याओं के अलावा काव्य, अलंकार, नाटक, गायन–वादन, युद्धकौशल, पाकशास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि कर्म, पशुपालन, वाणिज्य आदि चौंसठ कलाओं के अतिरिक्त खगोल विद्या, विमानशास्त्र आदि की भी शिक्षा गुरुकुलों में छात्रों को दी जाती थी।

पुरातन गुरुकुलों में मुख्य रूप से चारों वेदों का ही अध्यापन कराया जाता था। गुरुकुल के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये वेदाध्ययन आवश्यक था। उस काल में अध्ययन का मूल विषय श्रुतियों का अभ्यास ही था। आचार्य प्रतिदिन छात्रों को वेदों का अभ्यास कराते थे। छात्र मन्त्रों का शुद्ध उच्चारणपूर्वक कण्ठस्थीकरण का अभ्यास करते थे। विद्यार्थी इन वेदों का कण्ठस्थीकरण गुरुजनों से सुनकर ही करते थे। इस श्रुतिपरम्परा के माध्यम से ही वेद आज तक सुरक्षित हैं, इसीलिये वेदों को श्रुति के नाम से भी जाना जाता है। गुरुकुल में प्रत्येक छात्र यदि चारों वेदों का अध्ययन नहीं भी करता था तो वह अपनी शाखा के अनुसार सम्बद्ध उस वेद का अध्ययन तो अवश्य ही करता था। वेदों को सभी विद्याओं के मूल के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदों के अध्यापन के साथ ही विद्यार्थियों को यज्ञ –यागादि का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों का भी अध्ययन कराया जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से सम्बन्धित सिद्धान्तों , क्रियाकलापों तथा नीतियों का विवेचन हुआ है। कर्मकाण्ड एवं यज्ञादियों के अभ्यास से ब्रह्मचारी अपने सामाजिक जीवन में अर्थोपार्जन के द्वारा आजीविका चला सकते थे।

वेदों के वास्तविक स्वरूप की रक्षा के निमित्त तथा इनके गहन रहस्य को सरलता पूर्वक समझने के लिये शिक्षादि छः वेदांगों का विकास हुआ। इन वेदांगों की सहायता से वेदों के सूक्ष्मतम तत्त्व को जानने में सहायता प्राप्त होती है। गुरुकुल के छात्रों को वेद सरलता से हृदयगम हो जाये इसलिये इन वेदांगों के साथ वेदों का अध्ययन कराया जाता था। वेदों के शुद्धोच्चारण को सुनिश्चित करने के लये शिक्षा नामक वेदांग का उद्य हुआ। वेद मन्त्रों के उच्चारण को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये वर्ण –स्वरादि के उच्चारण, प्रकार को बतलाकर शिक्षा वेदांग वेदों के स्वरूप को नष्ट होने से रक्षा करता है। कल्प नामक दूसरा वेदांग विभिन्न वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अनेक वैदिक कर्मों का सुव्यवस्थित विवेचन करता है। वेदों में उल्लिखित कर्म अत्यधिक व्यापक एवं यत्र –तत्र फैले हुए थे। इन सभी कर्मों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित करके कल्प के रूप में सूत्रबद्ध किया गया। वेदों के तृतीय अंग के रूप में व्याकरण नामक वेदांग विकसित हुआ। छः अंगों में व्याकरण को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। अतः इसे वेद के मुख की संज्ञा दी गयी है। व्याकरण शास्त्र शब्दों के साधुत्व का बोधक है। आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' नामक रचना व्याकरण शास्त्र की वैज्ञानिकता एवं सूक्ष्म चिन्तन को प्रकाशित करती है। यह वैदिक मन्त्रों के पदो के साधुत्व का

प्रतिपादन कर वेदों की रक्षा में सहायक होता है। वेदों के चतुर्थ अंग के रूप में निरूक्त नामक वेदांग की रचना हुई। यह वेदांग वैदिक शब्दों का निर्वचन करके उनके वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करता है। छन्द पंचम वेदांग के रूप में जाना जाता है। वैदिक मन्त्र विभिन्न छन्दों में निबद्ध है। इस वेदांग के द्वारा विभिन्न छन्दों के लक्षण, उच्चारण, लय आदि का बोध कराया जाता है। अन्तिम एवं छठे वेदांग के रूप में ज्योतिष को रखा गया है। वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान के लिये उपयुक्त काल का निर्धारण करने हेतु ज्योतिष नामक वेदांग की सहायता ली जाती थी। इस प्रकार गुरुकुलों में इन छः वेदांगों के सहित वेदों की शिक्षा दी जाती थी।

चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत ग्यारहवें क्रम पर पुराण को रखा गया है। पुराण का लक्षण करते हुए बताया गया है कि इनमे पांच विषयों की विवेचना की जाती है। इसके अन्तर्गत सर्ग अर्थात् जगत् की सृष्टि प्रक्रियाए प्रतिसर्ग अर्थात् लय तथा पुनः सृष्टिए वंश अर्थात् देवों एवं ऋषियों के वंसों का प्रतिपादनए मन्वन्तर अर्थात् प्रत्येक मनु का समय तथा तात्कालिक घटनाओं का वर्णनए वंशानुचरित अर्थात् सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश के राजाओं का वर्णन किया जाता है :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंसो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।10

इन पुराणों की संख्या अठारह बतायी गयी है। मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु, वामन, वराह, वायु, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरूड़, कूर्म तथा स्कन्द ये अठारह पुराण कहे गये हैं।11 अठारह पुराणों के साथ ही अठारह उपपुराणों का प्रतिपादन किया है। समस्त पुराणों के सार के रूप में वेदव्यास जी ने परोपकार को ही पुण्य का स्वरूप बताया है तथा प्राणीमात्र को कष्ट देना ही पाप कहा गया है। गुरुकुलों में आचार्यों द्वारा अपने शिष्यों को इन पुराणों का अध्ययन भी कराया जाता था।

चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत परिगणित न्याय शास्त्र का भी अध्ययन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के दौरानन कराया जाता था। न्याय शास्त्र को तर्कशास्त्र अथवा तर्कविद्या के नाम से भी जाना जाता है। महर्षि अक्षपाद गौतम को न्याय दर्शन का प्रवर्तक माना गया है। इन्होंने न्यायसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वात्स्यायन के अनुसार प्रमाणों के द्वारा सिद्धान्तों के परीक्षण को ही न्याय की संज्ञा दी गयी है। न्याय दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक चार प्रमाणों की संज्ञा को स्वीकार करता है। इन्हीं प्रमाणों के माध्यम प्रमात्मक ज्ञान अर्थात् वास्तविक ज्ञान होता है। आगे चलकर यह न्याय शास्त्र प्राचीन एवं नव्य न्याय के रूप में विभाजित हो गया। नव्य न्याय की परम्परा का विकास गंगेशोपाध्याय से माना जाता है।

न्याय शास्त्र के अतिरिक्त मीमांसा दर्शन को भी चौदह विद्याओं के अंग के रूप में शिष्यों को आचार्यों द्वारा गुरुकुलों में पढ़ाया जाता था। आचार्य जैमिनी को मीमांसा दर्शन का प्रवर्तक आचार्य माना गया है। मीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है अर्थात् यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। यह दर्शन केवल वेदों के नित्यत्व का ही विवेचन करता है। यह वेदमन्त्रों को ही सर्वस्व स्वीकार करता है। मीमांसा दर्शन में वेदों के यज्ञात्मक एवं कर्मकाण्ड परक वचनों की विवेचना विचारपूर्वक की गयी है। मीमांसाक शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को नित्य स्वीकार करते है।

गुरुकुल शिक्षा में छात्रों को चतुर्दश विद्या के अन्तर्गत धर्मशास्त्रों का भी उपदेश दिया जाता था। धर्मशास्त्र सामाजिकों के लिये आचार.व्यवहार आदि के नियमों का उपदेश करता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था संचालन हेतु सभी वर्णाश्रमों के लिये नीति का निर्धारण किया गया था। इन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों पर ही प्राचीन न्याय व्यवस्था आधारित थी, धर्मशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मनुस्मृति के रूप में प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ अपने चिन्तन को आचारए व्यवहार, प्रायश्चित आदि श्रेणियों में प्रस्तुत करते हैं। धर्मशास्त्र समाज को दिशा देने का कार्य करता था।

गुरुकुलों में छात्रों को स्वयं तथा समाज के स्वास्थ्य की दृष्टि से आयुर्वेद की शिक्षा भी दी जाती थी। आयुर्वेद ऋग्वेद के उपवेद के रूप में विकसित हुआ है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के अन्तर्गत जिन विभिन्न चिकित्सकीय पक्षों का निर्देश किया गया है, सभी का विकास आयुर्वेद में हुआ है। सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेद में रोग का शमन तथा स्वास्थ्य की रक्षा का विचार किया जाता है। शल्य, शालावय, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, आगदतन्त्र, रसायनतन्त्र तथा वशीकरण इन आठ अंगों के रूप में आयुर्वेद की परम्परा विकसित होती है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता तथा वाग्भट्ट के ग्रन्थों को आयुर्वेद का प्रमुख ग्रन्थ माना गया है।

धनुर्वेद को यजुर्वेद का उपवेद कहा गया है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थियों को आत्म रक्षा एवं देश की रक्षा हेतु सैन्य प्रशिक्षण दिया जाता था। धनुर्वेद अर्थात् जिसके अन्तर्गत धनुषादि शस्त्रों को चलाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। वसिष्ठ द्वारा रचित धनुर्वेदसंहिता के अनुसार दुर्जन, लुटेरे, चोर आदि से धर्मपूर्वक सज्जन लोगों की रक्षा करना तथा प्रजा का पालन करना ही धनुर्वेद का मुख्य लक्ष्य है।12 अग्निपुराण में धनुर्वेद को ज्ञान की अष्टादश शाखाओं में अन्यतम कहा है। भृगु द्वारा इसकी शिक्षा दी जाती थी। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में इन्द्र को धनुर्वेद का स्वरूप माना गया है।

सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद की भी शिक्षा जिज्ञासु छात्रों को दी जाती थी। इसका सम्बन्ध शास्त्रीय गायन, वादन नृत्यादि से है। गन्धर्व वेद में राग, ताल, लय, सुर, गान आदि संगीत के विभिन्न पक्षों की विस्तार से चर्चा की गयी है। यहाँ विभिन्न प्रकार के वाद्य –यन्त्रों का भी

E ISSN 2320 – 0871
17 अक्टूबर 2026

प्रतिपादन किया गया है। गन्धर्ववेद में जगत् की सृष्टि का मूल तत्त्व नाद को स्वीकार किया गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध इसी से माना गया है।

चतुर्थ उपवेद के रूप में शिल्पवेद या स्थापत्य वेद को रखा गया है। इसका सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ स्वीकार किया गया है। शिल्पवेद वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि विभिन्न कलाओं का प्रतिपादन करता है। इसका मुख्य उद्देश्य विविध शिल्प व कलाओं के नियमों, सिद्धान्तों तथा तकनीकों का विवेचना करना है। शिल्पवेद के अन्तर्गत ही चौंसठ कलाओं का प्रतिपादन किया गया है। शिल्पवेद शिल्पकारों एवं कलाकारों के लिये अपने कार्य को उत्कृष्ट बनाने हेतु मार्गदर्शन प्रदान करता है। गुरुकुल शिक्षा के दौरान विद्यार्थियों को शिल्पवेद की भी शिक्षा दी जाती थी जिसका उपयोग छात्र भावी जीवन के निर्माण के लिये आजीविका हेतु करते थे।

निष्कर्ष

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गुरुकुल परम्परा का महत्व समझना भी आवश्यक है। आज का युवा शिक्षित तो हो गया है लेकिन संस्कारहीन रह गया है। नई तकनीक का ज्ञान तो उसने प्राप्त कर लिया है, किन्तु वह घर समाज.संस्थानों में समायोजन कर पाने में असमर्थ सा प्रतीत होता है। इसके लिए गुरुकुल पद्धति द्वारा प्राप्त सांगोपांग ज्ञान की अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान में टी.वी., अखबार या अन्य संचार के माध्यमों से जो खबरें मिल रही है, वे अत्यन्त चिन्ताजनक हैं। यदि आज की युवा पीढ़ी भारतीय प्राचीन शिक्षा परम्परा से प्रेरित होकर ज्ञान ग्रहण करेंगे तो निश्चित रूप में अवश्यम्भावी परिवर्तन आएंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 मुण्डकोपनिषद् 1/1/4–5)
2 अध्यात्मविद्या विद्यानाम (श्रीमद् भग. गीता 10/32)
3 मुण्डकोपनिषद् 1/1/6, 2/1/2
4 सर्वं खल्विदं ब्रह्म – छा. उप. 3/14/1
5 एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति। (छा.उप. 3/14/4)
6 यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।। (तै. उप. 3/1)
7 तै. उप. 3/1
8 अयमात्मा ब्रह्म (मा.उप. 2)
9 शान्तं शिवमद्वैत चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। (मा.उप. 7)
10 वि.पु. 3/6/24
11 मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिंगकुस्कानि पुराणानि पृथक्–पृथक्।। (संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा– पृ. 176)
12 दुष्टदस्युचोरादिभ्यः साधुसंरक्षणं धर्मतः।
प्रजापालनं धनुर्वेदस्य प्रयोजनम्।। (धनुर्वेदसंहिता 1/26)